गीता मानव मात्र का धर्मशास्त्र है।

-महर्षि वेदव्यास

श्रीकृष्णकालीन महर्षि वेदव्यास से पूर्व कोई भी शास्त्र पुस्तक के रूप में उपलब्ध नहीं था। श्रुतज्ञान की इस परम्परा को तोड़ते हुए उन्होंने चार वेद, ब्रह्मसूत्र, महाभारत, भागवत एवं गीता- जैसे ग्रन्थों में पूर्व संचित भौतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञानराशि को संकलित कर अन्त में स्वयं ही निर्णय दिया कि **'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।'** सारे वेदों के प्राण, उपनिषदों का भी सार है गीता, जिसे गोपाल श्रीकृष्ण ने दुहा और अशान्त जीव को परमात्मा के दर्शन और साधन की स्थिति, शाश्वत शान्ति की स्थिति तक पहुँचाया। उन महापुरुष ने अपनी कृतियों में से गीता को शास्त्र की संज्ञा देते हुए स्तुति की और कहा,

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।।

(म.भा., भीष्मपर्व/अ.४३/१)

गीता भली प्रकार मनन करके हृदय में धारण करने योग्य है, जो पद्मनाभ भगवान के श्रीमुख से निःसृत वाणी है फिर अन्य शास्त्रों के संग्रह की क्या आवश्यकता?

गीता का सारांश इस श्लोक से प्रकट होता है-

एकं शास्त्रं देवकीपुत्र गीतम्,
एको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मंत्रस्तस्य नामानि यानि,
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा।।

– (गीता माहात्म्य)

अर्थात् एक ही शास्त्र है जो देवकी-पुत्र भगवान ने श्रीमुख से गायन किया- गीता! एक ही प्राप्त करने योग्य देव है। उस गायन में जो सत्य

बताया- आत्मा! सिवाय आत्मा के कुछ भी शाश्वत नहीं है। उस गायन में उन महायोगेश्वर ने क्या जपने के लिए कहा- ओम्। अर्जुन! ओम् अक्षय परमात्मा का नाम है, उसका जप कर और ध्यान मेरा धर। एक ही धर्म है गीता में वर्णित परमदेव एक परमात्मा की सेवा। उन्हें श्रद्धा से अपने हृदय में धारण करो। अस्तु, आरम्भ से ही गीता आपका शास्त्र रहा है। भगवान श्रीकृष्ण के हजारों वर्ष पश्चात् परवर्ती जिन महापुरुषों ने एक ईश्वर को सत्य बताया, गीता के ही संदेशवाहक हैं। ईश्वर से ही लौकिक एवं पारलौकिक सुखों की कामना, ईश्वर से डरना, अन्य किसी को ईश्वर न मानना यहाँ तक तो सभी महापुरुषों ने बताया; किन्तु ईश्वरीय साधना, ईश्वर तक की दूरी तय करना यह केवल गीता में ही सांगोपांग क्रमबद्ध सुरक्षित है। गीता से सुख-शान्ति तो मिलती ही है किन्तु यह अक्षय अनामय पद भी देती है। देखिये गीता की गौरवप्राप्त टीका- **'यथार्थ गीता'**।

यद्यपि विश्व में सर्वत्र गीता का समादर है फिर भी यह किसी मज़हब या सम्प्रदाय का साहित्य नहीं बन सका; क्योंकि सम्प्रदाय किसी न किसी रूढ़ि से जकड़े हैं। भारत में प्रकट हुई गीता विश्व मनीषा की धरोहर है, अतः इसे राष्ट्रीय शास्त्र का मान देकर ऊँच-नीच, भेदभाव तथा कलह परम्परा से पीड़ित विश्व की सम्पूर्ण जनता को शान्ति देने का प्रयास करें।



प्राचीनकाल से लेकर अद्यतन मनीषियों द्वारा दिये गये तैथिक क्रमानुसार संदेश

श्री परमहंस आश्रम जगतानन्द, ग्रा.पो.बरैनी, कछवा, जिला-मिर्जापुर (उ.प्र.) में अपने निवास की अवधि में स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी ने प्रवेश-द्वार के पास इस तालिका को गंगा दशहरा (१९९३ ई.) के पावन पर्व पर बोर्ड पर अंकित कराया।

।। विश्वगुरु भारत ।।

- **वैदिक ऋषि (अनादि काल-नारायण सूक्त)-**
  कण-कण में व्याप्त ब्रह्म ही सत्य है। उसे विदित करने के अतिरिक्त मुक्ति का कोई अन्य उपाय नहीं है।
- **भगवान श्रीराम (त्रेता-लाखों वर्ष पूर्व-रामायण)-**
  एक परमात्मा के भजन के बिना जो कल्याण चाहता है वह मूढ़ है।
- **योगेश्वर श्रीकृष्ण (५००० वर्ष पूर्व-गीता)-**
  परमात्मा ही सत्य है। चिन्तन की पूर्ति में उस सनातन ब्रह्म की प्राप्ति संभव है। देवी-देवताओं की पूजा मूढ़बुद्धि की देन है।
- **महात्मा मूसा (३००० वर्ष पूर्व-यहूदी धर्म)-**
  तुमने ईश्वर से श्रद्धा हटायी, मूर्ति बनायी- इससे ईश्वर नाराज है। प्रार्थना में लग जाओ।
- **महात्मा जरथुस्त्र (२७०० वर्ष पूर्व-पारसी धर्म)-**
  अहुरमज्दा (ईश्वर) की उपासना द्वारा हृदय में स्थित विकारों को नष्ट करो, जो दुःख के कारण हैं।
- **भगवान महावीर (२६०० वर्ष पूर्व-जैन ग्रन्थ)-**
  आत्मा ही सत्य है। कठोर तपस्या से इसी जन्म में जाना जा सकता है।
- **गौतम बुद्ध (२५०० वर्ष पूर्व-महापरिनिब्बान सुत्त)-**
  मैंने उस अविनाशी पद को प्राप्त किया है, जिसे पूर्व महर्षियों ने प्राप्त किया था। यही मोक्ष है।

- **मसीह ईसा (२००० वर्ष पूर्व-ईसाई धर्म)-**

  ईश्वर प्रार्थना से प्राप्त होता है। मेरे अर्थात् सद्गुरु के पास आओ, इसलिए कि ईश्वर के पुत्र कहलाओगे।

- **हज़रत मुहम्मद सलल्लाहु. (१४०० वर्ष पूर्व-इस्लाम धर्म)-**

  'ला इलाह इल्लल्लाह मुहम्मदुर्र रसूलल्लाह'-जर्रे-जर्रे में व्याप्त खुदा (ईश्वर) के सिवाय कोई पूजनीय नहीं है। मुहम्मद अल्लाह के सन्देशवाहक हैं।

- **आदि शंकराचार्य (१२०० वर्ष पूर्व)-**

  जगत् मिथ्या है। इसमें सत्य है केवल हरि और उनका नाम।

- **सन्त कबीर (६०० वर्ष पूर्व)-**

  'राम नाम अति दुर्लभ, औरन ते नहीं काम। आदि मध्य और अन्तहूँ, रामहिं ते संग्राम।।' राम से संघर्ष करो, वही कल्याणकारी हैं।

- **गुरु नानक (५०० वर्ष पूर्व)-**

  'एक ओंकार सतगुरु प्रसादि।' एक ओंकार ही सत्य है किन्तु वह सद्गुरु की कृपा का प्रसाद है।

- **स्वामी दयानन्द सरस्वती (२०० वर्ष पूर्व)-**

  अजर, अमर, अविनाशी एक परमात्मा की उपासना करें। उस ईश्वर का मुख्य नाम ओम् है।

- **स्वामी श्री परमानन्द जी (१९११-१९६९ ई.)-**

  भगवान जब कृपा करते हैं तो शत्रु मित्र हो जाते हैं, विपत्ति सम्पत्ति हो जाती है। भगवान सर्वत्र से देखते हैं।

।। ॐ ।।

अनन्तश्री विभूषित,

योगिराज, युग पितामह

परमपूज्य श्री स्वामी परमानन्द जी

श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया

(चित्रकूट)

के परम पावन चरणों में

सादर समर्पित

- अन्तःप्रेरणा

गुरु-वन्दना

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय ।।

जय सद्गुरुदेवं, परमानन्दं, अमर शरीरं अविकारी।।
निर्गुण निर्मूलं, धरि स्थूलं, काटन शूलं भवभारी।।

सूरत निज सोहं, कलिमल खोहं, जनमन मोहन छविभारी।।
अमरापुर वासी, सब सुख राशी, सदा एकरस निर्विकारी।।

अनुभव गम्भीरा, मति के धीरा, अलख फकीरा अवतारी।।
योगी अद्वैष्टा, त्रिकाल द्रष्टा, केवल पद आनन्दकारी।।

चित्रकूटहिं आयो, अद्वैत लखायो, अनुसुइया आसन मारी।।
श्री परमहंस स्वामी, अन्तर्यामी, हैं बड़नामी संसारी।।

हंसन हितकारी, जग पगुधारी, गर्व प्रहारी उपकारी।।
सत्-पंथ चलायो, भरम मिटायो, रूप लखायो करतारी।।

यह शिष्य है तेरो, करत निहोरो, मोपर हेरो प्रणधारी।।
जय सद्गुरु.........भारी।।

।। ॐ ।।

वन्दना

भवसागर-तारण कारण हे, रविनन्दन-बन्धन-खण्डन हे।
शरणागत किंकर भीत मने, गुरुदेव दया कर दीन जने।।

हृदि-कन्दर-तामस-भास्कर हे, तुम विष्णु प्रजापति शंकर हे।
परब्रह्म परात्पर वेद भणें, गुरुदेव दया कर दीन जने।।

मन-वारण-कारण अंकुश हे, नर त्राण करे हरि चाक्षुष हे।
गुण-गान-परायण देवगणे, गुरुदेव दया कर दीन जने।

कुल-कुण्डलिनी तुम भंजक हे, हृदि-ग्रन्थ विदारण कारण हे।
महिमा तव गोचर शुद्ध मने, गुरुदेव दया कर दीन जने।।

अभिमान-प्रभाव-विमर्दक हे, अति हीन जने तुम रक्षक हे।
मन-कम्पित-वंचित-भक्ति-घने, गुरुदेव दया कर दीन जने।।

रिपुसूदन मंगलनायक हे, सुख-शान्ति-वराभय दायक हे।
भव-ताप हरे तव नाम गुणे, गुरुदेव दया कर दीन जने।।

तव नाम सदा सुख-साधक हे, पतिताधम-मानव पावक हे।
मम मानसचंचल रात्रि दिने, गुरुदेव दया कर दीन जने।।

जय सद्गुरु ईश्वर प्रापक हे! भवरोग-विकार विनाशक हे।
मन लीन रहे तव श्रीचरणे, गुरुदेव दया कर दीन जने।।

।। सद्गुरुदेव भगवान् की जय ।।

धर्म-सिद्धान्त – एक

१. सभी प्रभु के पुत्र-

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।१५/७।।

सभी मानव ईश्वर की सन्तान हैं।

२. मानव तन की सार्थकता-

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।९/३३।।

सुखरहित, क्षणभंगुर किन्तु दुर्लभ मानव-तन को पाकर मेरा भजन कर अर्थात् भजन का अधिकार मनुष्य शरीरधारी को है।

३. मनुष्य की केवल दो जाति-

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु।।१६/६।।

मनुष्य केवल दो प्रकार के हैं – देवता और असुर। जिसके हृदय में दैवी सम्पत्ति कार्य करती है वह देवता है तथा जिसके हृदय में आसुरी सम्पत्ति कार्य करती है वह असुर है। तीसरी कोई अन्य जाति सृष्टि में नहीं है।

४. हर कामना ईश्वर से सुलभ-

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।९/२०।।

मुझे भजकर लोग स्वर्ग तक की कामना करते हैं, मैं उन्हें देता हूँ। अर्थात् सब कुछ एक परमात्मा से सुलभ है।

५. भगवान की शरण से पापों का नाश-

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।।४/३६।।

सम्पूर्ण पापियों से अधिक पाप करनेवाला भी ज्ञानरूपी नौका से निःसन्देह पार हो जायेगा।

६. ज्ञान-

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।१३/११।।

आत्मा के आधिपत्य में आचरण, तत्त्व के अर्थरूप मुझ परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन ज्ञान है और इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है अज्ञान है। अतः ईश्वर की प्रत्यक्ष जानकारी ही ज्ञान है।

७. भजन का अधिकार सबको-

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।९/३०।।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।९/३१।।

अत्यन्त दुराचारी भी मेरा भजन करके शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है एवं सदा रहनेवाली शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर लेता है। अतः धर्मात्मा वह है जो एक परमात्मा के प्रति समर्पित है और भजन करने का अधिकार दुराचारी तक को है।

८. भगवत्पथ में बीज का नाश नहीं-

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।२/४०।।

इस आत्मदर्शन की क्रिया का स्वल्प आचरण भी जन्म-मरण के महान् भय से उद्धार करनेवाला होता है।

९. ईश्वर का निवास-

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।१८/६१।।

ईश्वर सभी भूत-प्राणियों के हृदय में रहता है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।१८/६२।।

सम्पूर्ण भाव से उस एक परमात्मा की शरण में जाओ। जिसकी कृपा से तू परमशान्ति, शाश्वत परमधाम को प्राप्त होगा।

१०. यज्ञ-

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।४/२७।।

सम्पूर्ण इन्द्रियों के व्यापार को, मन की चेष्टाओं को ज्ञान से प्रकाशित हुई आत्मा में संयमरूपी योगाग्नि में हवन करते हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगतीरुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।४/२९।।

बहुत से योगी श्वास को प्रश्वास में हवन करते हैं और बहुत से प्रश्वास को श्वास में। इससे उन्नत अवस्था होने पर अन्य श्वास-प्रश्वास की गति रोककर प्राणायाम परायण हो जाते हैं। इस प्रकार योग-साधना की विधि-विशेष का नाम यज्ञ है। उस यज्ञ को कार्यरूप देना कर्म है।

११. यज्ञ करने का अधिकार-

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।४/३१।।

यज्ञ न करनेवालों को दुबारा मनुष्य-शरीर भी नहीं मिलता अर्थात् यज्ञ करने का अधिकार उन सबको है जिन्हें मनुष्य-शरीर मिला है।

१२. ईश्वर देखा जा सकता है-

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।।११/५४।।

अनन्य भक्ति के द्वारा मैं प्रत्यक्ष देखने, जानने तथा प्रवेश करने के लिए भी सुलभ हूँ।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।२/२९।।

इस अविनाशी आत्मा को कोई विरला ही आश्चर्य की तरह देखता है अर्थात् यह प्रत्यक्ष दर्शन है।

१३. आत्मा ही सत्य है, सनातन है-

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।२/२४।।

यह आत्मा सर्वव्यापक, अचल स्थिर रहनेवाला और सनातन है। आत्मा ही सत्य है।

१४. विधाता और उससे उत्पन्न सृष्टि नश्वर है-

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।८/१६।।

ब्रह्मा और उनसे निर्मित सृष्टि, देवता और दानव दुःखों की खानि, क्षणभंगुर और नश्वर हैं।

१५. देव-पूजा-

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।७/२०।।

कामनाओं से जिनकी बुद्धि आक्रान्त है ऐसे मूढ़बुद्धि ही परमात्मा के अतिरिक्त अन्य देवताओं की पूजा करते हैं।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।९/२३।।

देवताओं को पूजनेवाला मेरी ही पूजा करता है; किन्तु वह पूजन अविधिपूर्वक है, इसलिये नष्ट हो जाता है।

शास्त्रविधि का त्याग-

अर्जुन, शास्त्रविधि को त्यागकर भजनेवाले सात्विक श्रद्धावाले देवताओं को, राजस पुरुष यक्ष-राक्षसों को और तामस पुरुष भूत-प्रेतों को पूजते हैं; किन्तु-

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।।१७/६।।

वे शरीर रूप में स्थित भूत-समुदाय और अंतर्यामी रूप में स्थित मुझ परमात्मा को कृश करनेवाले हैं। उनको तू असुर जान। अर्थात् देवताओं को पूजनेवाले भी आसुरी वृत्ति के अंतर्गत हैं।

१६. अधम-

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।१६/१९

जो यज्ञ की नियत विधि छोड़ कल्पित विधियों से यजन करते हैं वे ही क्रूरकर्मी, पापाचारी तथा मनुष्यों में अधम हैं। अन्य कोई अधम नहीं है।

१७. नियत विधि क्या है?

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।८/१३।।

ॐ, जो अक्षय ब्रह्म का परिचायक है उसका जप तथा मुझ एक परमात्मा का स्मरण, तत्त्वदर्शी महापुरुष के संरक्षण में ध्यान।

१८. शास्त्र-

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।।१५/२०।।

इस प्रकार यह अति गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया। स्पष्ट है कि शास्त्र गीता है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।१६/२४।।

कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के निर्धारण में शास्त्र ही प्रमाण है। अतः गीता में निर्धारित विधि से आचरण करें।

१९. धर्म-

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।।१८/६६।।

धार्मिक उथल-पुथल को छोड़ एकमात्र मेरी शरण हो जा अर्थात् एक भगवान के प्रति पूर्ण समर्पण ही धर्म का मूल है, उस प्रभु को पाने की नियत विधि का आचरण ही धर्माचरण है (अध्याय २, श्लोक ४०) और जो उसे करता है वह अत्यन्त पापी भी शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है (अ.९, श्लोक ३०)।

२०. धर्म प्राप्त कहाँ से करें?

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।।१४/२७।।

उस अविनाशी ब्रह्म का, अमृत का, शाश्वत धर्म का और अखण्ड एकरस आनन्द का मैं ही आश्रय हूँ अर्थात् परमात्म-स्थित सद्गुरु ही इन सबका आश्रय है।

नोट : विश्व के सारे धर्मों की सत्यधारा गीता का ही प्रसारण है।



प्राक्कथन

वस्तुतः गीता पर टीका लिखने की अब कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती; क्योंकि इस पर सैकड़ों टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं, जिनमें पचासों तो केवल संस्कृत में ही हैं। गीता को लेकर पचासों मत हैं, जबकि सबकी आधारशिला एकमात्र गीता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने तो कोई एक बात कही होगी, फिर यह मतभेद क्यों? वस्तुतः वक्ता एक ही बात कहता है; किन्तु श्रोता यदि दस बैठे हों तो दस प्रकार के आशय ग्रहण करते हैं। व्यक्ति की बुद्धि पर तामसी, राजसी अथवा सात्त्विक गुणों का जितना प्रभाव है, उसी स्तर से उस वार्त्ता को पकड़ पाता है। इससे आगे वह समझ नहीं पाता। अतः मतभेद स्वाभाविक है।

विभिन्न मतवादों से, और कभी-कभी एक ही सिद्धान्त को अलग-अलग काल और भाषाओं में व्यक्त करने से साधारण मनुष्य संशय में पड़ जाता है। बहुत-सी टीकाओं के बीच वह सत्यधारा भी प्रवाहित है; किन्तु शुद्ध अर्थवाली एक पुस्तक हजारों टीकाओं के बीच रख दी जाय, तो उनमें यह पहचानना कठिन हो जाता है कि यथार्थ कौन है? वर्तमान काल में गीता की बहुत-सी टीकाएँ हो गयी हैं, सभी अपनी सत्यता का उद्घोष करती हैं; किन्तु गीता के शुद्ध अर्थ से वे बहुत दूर हैं। निःसन्देह कुछ महापुरुषों ने सत्य का स्पर्श भी किया; किन्तु कतिपय कारणों से वे उसे समाज के समक्ष प्रस्तुत न कर सके।

श्रीकृष्ण के आशय को हृदयंगम न कर पाने का मूल कारण है कि वे एक योगी थे। श्रीकृष्ण जिस स्तर की बात करते हैं, क्रमशः चलकर उसी स्तर पर खड़ा होनेवाला कोई महापुरुष ही अक्षरशः बता सकेगा कि श्रीकृष्ण ने जिस समय गीता का उपदेश दिया था, उस समय उनके मनोगत भाव क्या थे? मनोगत समस्त भाव कहने में नहीं आते। कुछ तो कहने में आ

पाते हैं, कुछ भाव-भंगिमा से व्यक्त होते हैं और शेष पर्याप्त क्रियात्मक हैं, जिसे कोई पथिक चलकर ही जान सकता है। जिस स्तर पर श्रीकृष्ण थे, क्रमशः चलकर उसी अवस्था को प्राप्त महापुरुष ही जानता है कि गीता क्या कहती है। वह गीता की पंक्तियाँ ही नहीं दुहराता, बल्कि उनके भावों को भी दर्शा देता है; क्योंकि जो दृश्य श्रीकृष्ण के सामने था, वही उस वर्तमान महापुरुष के समक्ष भी है। इसलिये वह देखता है, दिखा देगा; आपमें जागृत भी कर देगा, उस पथ पर चला भी देगा।

'पूज्य श्री परमहंस जी महाराज' भी उसी स्तर के महापुरुष थे। उनकी वाणी तथा अन्तःप्रेरणा से मुझे गीता का जो अर्थ मिला, उसी का संकलन 'यथार्थ गीता' है। इसमें मेरा अपना कुछ भी नहीं है। यह 'क्रियात्मक' है। साधन अपनानेवाले प्रत्येक पुरुष को इसी परिधि से गुजरना होगा। जब तक वह इससे अलग है, तब तक स्पष्ट है कि वह साधन नहीं करता, किसी-न-किसी प्रकार की लकीर अवश्य पीटता है। अतः किसी महापुरुष की शरण लें। श्रीकृष्ण ने किसी अन्य सत्य को नहीं बताया बल्कि कहा- **'ऋषिभिर्बहुधा गीतं'**- ऋषियों ने अनेकों बार जिसका गायन किया है, वही कहने जा रहा हूँ। उन्होंने यह नहीं कहा कि उस ज्ञान को केवल मैं ही जानता हूँ या मैं ही बताऊँगा, बल्कि कहा - ''किसी 'तत्त्वदर्शी' के पास जाओ। निष्कपट भाव से सेवा करके उस ज्ञान को प्राप्त करो।'' श्रीकृष्ण ने महापुरुषों द्वारा शोधित सत्य को ही उद्घाटित किया है।

गीता सुबोध संस्कृत में है। यदि अन्वयार्थ ही लें तो गीता का अधिकांश आप स्वयं हृदयंगम कर सकेंगे; किन्तु आप ज्यों-का-त्यों अर्थ नहीं लेते। उदाहरण के लिए; श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा कि ''यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है।'', फिर भी आप कहते हैं कि खेती करना कर्म है। यज्ञ को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया कि यज्ञ में बहुत से योगीजन प्राण को अपान में हवन करते हैं, बहुत से अपान को प्राण में हवन करते हैं, बहुत से योगी प्राण-अपान दोनों को रोककर प्राणायाम-परायण हो जाते हैं। बहुत से योगी इन्द्रियों की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों को संयमाग्नि में हवन करते हैं। इस प्रकार श्वास-प्रश्वास का चिन्तन यज्ञ है। मनसहित इन्द्रियों का संयम यज्ञ है। शास्त्रकार ने स्वयं यज्ञ बताया, फिर भी आप कहते

हैं कि विष्णु के निमित्त स्वाहा बोलना, अग्नि में जौ-तिल-घी का हवन करना यज्ञ है। उन योगेश्वर ने ऐसा एक शब्द भी नहीं कहा।

क्या कारण है कि आप समझ नहीं पाते? बाल की खाल निकालकर रटने पर भी क्यों वाक्य-विन्यास ही आपके हाथ लगता है? आप अपने को यथार्थ जानकारी से शून्य ही क्यों पाते हैं? वस्तुतः मनुष्य जन्म लेकर क्रमशः बड़ा होता है, तो पैतृक सम्पत्ति (घर, दूकान, जमीन-जायदाद, पद-प्रतिष्ठा, गाय, भैंस, यन्त्र-उपकरण इत्यादि) उसे विरासत में मिलते हैं। ठीक इसी प्रकार उसे कुछ रूढ़ियाँ, परम्पराएँ, पूजा-पद्धतियाँ भी विरासत में मिल जाती है। तैंतीस करोड़ देवी-देवता तो भारत में बहुत पहले गिने गये थे, विश्व में उनके अनगिनत रूप हैं। शिशु ज्यों-ज्यों बड़ा होता है, अपने माता-पिता, भाई-बहन, पास-पड़ोस में इनकी पूजा देखता है। परिवार में प्रचलित पूजा-पद्धतियों की अमिट छाप उसके मस्तिष्क पर पड़ जाती है। देवी की पूजा मिली तो जीवन भर देवी-देवी रटता है, परिवार में भूत-पूजा मिली तो भूत-भूत रटता है। कोई शिव तो कोई कृष्ण, तो कोई कुछ पकड़े ही रहता है। उन्हें वह छोड़ नहीं सकता।

ऐसे भ्रान्तपुरुष को गीता-जैसा कल्याणकारी शास्त्र मिल भी जाय, तो वह उसे नहीं समझ सकता। पैतृक सम्पदा को कदाचित् वह छोड़ भी सकता है; किन्तु इन रूढ़ियों और मज़हबी पचड़ों को नहीं मिटा सकता। पैतृक सम्पत्ति को हटाकर आप हजारों मील दूर जा सकते हैं; किन्तु दिल-दिमाग में अंकित ये रूढ़िगत विचार वहाँ भी आपका पिण्ड नहीं छोड़ते। आप सिर काटकर अलग तो रख नहीं सकते। अतः आप यथार्थ शास्त्र को भी उन्हीं रूढ़ियों, रीति-रिवाजों, मान्यताओं और पूजा-पद्धतियों के अनुरूप ढालकर देखना चाहते हैं। यदि उनके अनुरूप बात ढलती है, वार्त्ता का क्रम बैठता है तो आप उसे सही मानते हैं और नहीं ढलती तो गलत मानते हैं। इसीलिये आप गीता का रहस्य नहीं देख पाते। गीता का रहस्य, रहस्य ही बनकर रह जाता है। इसके वास्तविक पारखी सन्त अथवा सद्गुरु हैं। वही बता सकते हैं कि गीता क्या कहती है? सब नहीं जान सकते। सबके लिए सुलभ उपाय यही है कि इसे किसी महापुरुष के सान्निध्य में समझें, जिसके लिए श्रीकृष्ण ने बल दिया है।

गीता किसी विशिष्ट व्यक्ति, जाति, वर्ग, पंथ, देश-काल या किसी रूढ़िग्रस्त सम्प्रदाय का ग्रन्थ नहीं है बल्कि यह सार्वलौकिक, सार्वकालिक धर्मग्रन्थ है। यह प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति तथा प्रत्येक स्तर के प्रत्येक स्त्री-पुरुष के लिए, सबके लिए है। केवल दूसरों से सुनकर या किसी से प्रभावित होकर मनुष्य को ऐसा निर्णय नहीं लेना चाहिए, जिसका प्रभाव सीधे उसके अपने अस्तित्व पर पड़ता हो। पूर्वाग्रह की भावना से मुक्त होकर सत्यान्वेषियों के लिये यह आर्षग्रन्थ आलोक-स्तम्भ है। हिन्दुओं का आग्रह है कि वेद ही प्रमाण हैं। वेद का अर्थ है ज्ञान, परमात्मा की जानकारी। परमात्मा न संस्कृत में है न संहिताओं में। पुस्तक तो उसका संकेतमात्र है। वह वस्तुतः हृदय में जागृत होता है।

विश्वामित्र चिन्तन कर रहे थे। उनकी भक्ति देखकर ब्रह्मा आये, बोले, ''आज से तुम ऋषि हो।'' विश्वामित्र को संतोष नहीं हुआ, चिन्तन में लगे रहे। कुछ काल पश्चात् देवताओं सहित ब्रह्मा पुनः आये और बोले - ''आज से तुम राजर्षि हो''; किन्तु विश्वामित्र का समाधान न हुआ। वे अनवरत चिन्तन में लगे रहे। ब्रह्मा दैवी सम्पदाओं के साथ पुनः आये और बताया कि आज से आप महर्षि हुए। विश्वामित्र ने कहा, ''नहीं, मुझे जितेन्द्रिय ब्रह्मर्षि कहें।'' ब्रह्मा ने कहा, ''अभी तुम जितेन्द्रिय नहीं हो।'' विश्वामित्र पुनः तपस्या में लग गये। उनके मस्तिष्क से तपस्या का धुआँ निकलने लगा, तब देवताओं ने ब्रह्मा से निवेदन किया। ब्रह्मा उसी प्रकार विश्वामित्र से बोले, ''अब तुम ब्रह्मर्षि हो।'' विश्वामित्र ने कहा, ''यदि मैं ब्रह्मर्षि हूँ, तो वेद हमारा वरण करे।'' वेद विश्वामित्र के हृदय में उतर आये। जो तत्त्व विदित नहीं था, विदित हो गया। यही वेद है, न कि पोथी। जहाँ विश्वामित्र रहते थे, वहाँ वेद रहता था।

यही श्रीकृष्ण भी कहते हैं कि, ''संसार अविनाशी पीपल का वृक्ष है। ऊपर परमात्मा जिसका मूल और नीचे प्रकृतिपर्यन्त शाखाएँ हैं। जो इस प्रकृति का अन्त करके परमात्मा को विदित कर लेता है, वह वेदवित है। अर्जुन! मैं भी वेदवित हूँ।'' अतः प्रकृति के प्रसार और अन्त के साथ परमात्मा की अनुभूति का नाम 'वेद' है। यह अनुभूति ईश्वर प्रदत्त है, इसलिए

वेद अपौरुषेय कहा जाता है। महापुरुष अपौरुषेय होता है। उसके माध्यम से परमात्मा ही बोलता है। वे परमात्मा के संदेश-प्रसारक (ट्रांसमीटर) हो जाते हैं। केवल शब्द-ज्ञान के आधार पर उनकी वाणी में निहित यथार्थ को परखा नहीं जा सकता। उन्हें वही जान पाता है, जिसने क्रियात्मक पथ से चलकर इस अपौरुषेय (Non-Person) स्थिति को पाया हो, जिसका पुरुष (अहं) परमात्मा में विलीन हो चुका हो।

वस्तुतः वेद अपौरुषेय हैं; किन्तु बोलनेवाले सौ-डेढ़ सौ महापुरुष ही थे। उन्हीं की वाणी का संकलन 'वेद' कहलाता है। किन्तु जब शास्त्र लिखने में आ जाता है, तो सामाजिक व्यवस्था के नियम भी उसके साथ लिख दिये जाते हैं। महापुरुष के नाम पर जनता उनका भी पालन करने लगती है, यद्यपि धर्म से उनका दूर का भी सम्बन्ध नहीं रहता। आधुनिक युग में मन्त्रियों के आगे-पीछे घूमकर साधारण नेता भी अधिकारियों से अपना काम करा लेते हैं, जबकि मन्त्री ऐसे नेताओं को जानते भी नहीं। इसी प्रकार सामाजिक व्यवस्थाकार महापुरुष की ओट में जीने-खाने की व्यवस्था भी ग्रन्थों में लिपिबद्ध कर देते हैं। उनका सामाजिक उपयोग तत्सामयिक ही होता है। वेदों के सम्बन्ध में भी यही है। उनके चिरन्तन सत्य उपनिषदों में संग्रहीत हैं। उन्हीं उपनिषदों का सारांश योगेश्वर श्रीकृष्ण की वाणी गीता है। सारांशतः गीता अपौरुषेय 'वेद'-रसार्णव से समुद्भूत उपनिषद्-सुधा का सार-सर्वस्व है।

इसी प्रकार प्रत्येक महापुरुष, जो परमतत्त्व को प्राप्त कर लेता है, स्वयं में धर्मग्रन्थ है। उसकी वाणी का संकलन विश्व में कहीं भी हो, शास्त्र कहलाता है; किन्तु कतिपय धर्मावलम्बियों का यह कथन है कि- "जितना कुरान में लिखा है उतना ही सच है। अब कुरान नहीं उतरेगा।", "ईसामसीह पर विश्वास किये बिना स्वर्ग नहीं मिल सकता, वह ईश्वर का इकलौता बेटा था।", "अब ऐसा महापुरुष नहीं हो सकता"- उनकी रूढ़िवादिता है। यदि उसी तत्त्व को साक्षात् कर लिया जाय, तो वही बात फिर होगी।

गीता सार्वभौम है। धर्म के नाम पर प्रचलित विश्व के समस्त धर्मग्रन्थों में गीता का स्थान अद्वितीय है। यह स्वयं में धर्मशास्त्र ही नहीं, बल्कि अन्य

धर्मग्रन्थों में निहित सत्य का मानदण्ड भी है। गीता वह कसौटी है, जिसपर प्रत्येक धर्मग्रन्थ में अनुस्यूत सत्य अनावृत्त हो उठता है, परस्पर विरोधी कथनों का समाधान निकल आता है। प्रत्येक धर्मग्रन्थ में, संसार में जीने-खाने की कला और कर्मकाण्डों का बाहुल्य है। जीवन को आकर्षक बनाने के लिए उन्हें करने तथा न करने के रोचक-भयानक वर्णनों से धर्मग्रन्थ भरे पड़े हैं। कर्मकाण्डों की इसी परम्परा को जनता धर्म समझने लगती है। जीवन-निर्वाह की कला के लिए निर्मित पूजा-पद्धतियों में देश-काल और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन स्वाभाविक है। धर्म के नाम पर समाज में कलह का यही एकमात्र कारण है। 'गीता' इन क्षणिक व्यवस्थाओं से ऊपर उठकर आत्मिकपूर्णता में प्रतिष्ठित करने का क्रियात्मक अनुशीलन है, जिसका एक भी श्लोक भौतिक जीवनयापन के लिये नहीं है। इसका प्रत्येक श्लोक आपसे आन्तरिक युद्ध 'आराधना' की माँग करता है। तथाकथित धर्मग्रन्थों की भाँति यह आपको स्वर्ग या नरक के द्वन्द्व में फँसाकर नहीं छोड़ता, बल्कि उस अमरत्व की उपलब्धि कराता है, जिसके पीछे जन्म-मृत्यु का बन्धन नहीं रह जाता।

प्रत्येक महापुरुष की अपनी शैली और कुछ अपने विशिष्ट शब्द होते हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भी गीता में 'कर्म', 'यज्ञ', 'वर्ण', 'वर्णसंकर', 'युद्ध', 'क्षेत्र', 'ज्ञान' इत्यादि शब्दों पर बार-बार बल दिया है। इन शब्दों का अपना आशय है और पुनरावृत्ति में भी इनका अपना सौन्दर्य है। हिन्दी रूपान्तरण में इन शब्दों को उसी आशय में लिया गया है तथा आवश्यक स्थलों की व्याख्या भी की गई है। गीता के आकर्षण निम्नलिखित प्रश्न हैं, जिनका आशय आधुनिक समाज खो चुका है। वे इस प्रकार हैं, जिन्हें 'यथार्थ गीता' में आप पायेंगे-

१. **श्रीकृष्ण** - एक योगेश्वर थे।

२. **सत्य** - आत्मा ही 'सत्य' है।

३. **सनातन** - आत्मा सनातन है, परमात्मा 'सनातन' है।

४. **सनातन धर्म** - परमात्मा से मिलानेवाली क्रिया है।

५. **युद्ध –** दैवी एवं आसुरी सम्पदाओं का संघर्ष 'युद्ध' है। ये अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ हैं। इन दोनों का मिटना परिणाम है।

६. **युद्ध-स्थान –** यह मानव-शरीर और मनसहित इन्द्रियों का समूह 'युद्धस्थल' है।

७. **ज्ञान –** परमात्मा की प्रत्यक्ष जानकारी 'ज्ञान' है।

८. **योग –** संसार के संयोग-वियोग से रहित अव्यक्त ब्रह्म के मिलन का नाम 'योग' है।

९. **ज्ञानयोग –** आराधना ही कर्म है। अपने पर निर्भर होकर कर्म में प्रवृत्त होना 'ज्ञानयोग' है।

१०. **निष्काम कर्मयोग –** इष्ट पर निर्भर होकर समर्पण के साथ कर्म में प्रवृत्त होना 'निष्काम कर्मयोग' है।

११. **श्रीकृष्ण ने किस सत्य को बताया? –** श्रीकृष्ण ने उसी सत्य को बताया, जिसको तत्त्वदर्शियों ने पहले देख लिया था और आगे भी देखेंगे।

१२. **यज्ञ –** साधना की विधि-विशेष का नाम 'यज्ञ' है।

१३. **कर्म –** यज्ञ को कार्यरूप देना ही 'कर्म' है।

१४. **वर्ण –** आराधना की एक ही विधि, जिसका नाम कर्म है। जिसको चार श्रेणियों में बाँटा है, वही चार वर्ण हैं। यह एक ही साधक का ऊँचा-नीचा स्तर है, न कि जाति।

१५. **वर्णसंकर –** परमात्म-पथ से च्युत होना, साधन में भ्रम उत्पन्न हो जाना 'वर्णसंकर' है।

१६. **मनुष्य की श्रेणी –** अन्तःकरण के स्वभाव के अनुसार मनुष्य दो प्रकार का होता है – एक देवताओं-जैसा, दूसरा असुरों-जैसा। यही मनुष्य की दो जातियाँ हैं, जो स्वभाव द्वारा निर्धारित हैं और यह स्वभाव घटता-बढ़ता रहता है।

१७. **देवता –** हृदय-देश में परमदेव का देवत्व अर्जित करानेवाले गुणों का समूह है। बाह्य देवताओं की पूजा मूढ़बुद्धि की देन है।

१८. **अवतार** – व्यक्ति के हृदय में होता है, बाहर नहीं।

१९. **विराट् दर्शन** – योगी के हृदय में ईश्वर के द्वारा दी गई अनुभूति है। भगवान साधक में दृष्टि बनकर खड़े हों, तभी दिखायी पड़ते हैं।

२०. **पूजनीय देव 'इष्ट'** – एकमात्र परात्पर ब्रह्म ही 'पूजनीय देव' है। उसे खोजने का स्थान हृदय-देश है। उसकी प्राप्ति का स्त्रोत उसी अव्यक्त स्वरूप में स्थित 'प्राप्तिवाले महापुरुषों' के द्वारा है।

अब इनमें से योगेश्वर श्रीकृष्ण का स्वरूप समझने के लिए अध्याय तीन तक आपको पढ़ना होगा, और अध्याय तेरह तक आप स्पष्ट समझने लगेंगे कि श्रीकृष्ण योगी थे। अध्याय दो से ही सत्य निखर जायेगा। सनातन और सत्य एक दूसरे के पूरक हैं, यह अध्याय दो से ही स्पष्ट होगा, वैसे पूर्तिपर्यन्त चलेगा। युद्ध अध्याय चार तक स्पष्ट होने लगेगा, ग्यारह तक संशय निर्मूल हो जायेगा, वैसे अध्याय सोलह तक देखना चाहिए। 'युद्धस्थल' के लिए अध्याय तेरह बार-बार देखें।

'ज्ञान' अध्याय चार से स्पष्ट होगा तथा अध्याय तेरह में भली प्रकार समझ में आयेगा कि प्रत्यक्ष दर्शन का नाम 'ज्ञान' है। 'योग' अध्याय छः तक आप समझ सकेंगे, वैसे पूर्तिपर्यन्त योग के विभिन्न अंशों की परिभाषा है। 'ज्ञानयोग' अध्याय तीन से छः तक स्पष्ट हो जायेगा, आगे देखने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। 'निष्काम कर्मयोग' अध्याय दो से आरम्भ होकर पूर्तिपर्यन्त है। 'यज्ञ' आप अध्याय तीन से चार तक पढ़ें, स्पष्ट हो जायेगा।

'कर्म' का नाम अध्याय २/३९ में प्रथम बार दिया गया है। इसी श्लोक से अध्याय चार तक पढ़ लें, तो स्पष्ट हो जायेगा कि कर्म का अर्थ आराधना-भजन क्यों है? अध्याय सोलह और सत्रह, यह विचार स्थिर कर देता है कि यही सत्य है। 'वर्णसंकर' अध्याय तीन में और 'अवतार' अध्याय चार में स्पष्ट हो जायेगा। 'वर्ण-व्यवस्था' के लिए अध्याय अठारह देखना होगा, वैसे संकेत अध्याय तीन-चार में भी है। मनुष्य की देवासुर जातियों के लिए अध्याय सोलह द्रष्टव्य है। 'विराट्-दर्शन' अध्याय दस से ग्यारह तक स्पष्ट हो गया है। अध्याय सात, नौ और पन्द्रह में भी इस पर प्रकाश डाला गया

है। अध्याय सात, नौ और सत्रह में बाह्य देवताओं की अस्तित्वहीनता स्पष्ट हो जाती है। परमात्मा के पूजन की स्थली हृदय-देश ही है, जिसमें ध्यान, श्वास-प्रश्वास के चिन्तन इत्यादि की क्रियाएँ, जो एकान्त में बैठकर (मन्दिर-मूर्ति के सामने नहीं) की जाती हैं - अध्याय तीन, चार, छः और अठारह में स्पष्ट है। बहुत सोचने-विचारने से क्या प्रयोजन है, यदि अध्याय छः तक ही अध्ययन कर लें, तो भी 'यथार्थ गीता' का मूल आशय आपकी समझ में आ जायेगा।

गीता जीविका-संग्राम का साधन नहीं अपितु जीवन-संग्राम में शाश्वत विजय का क्रियात्मक प्रशिक्षण है, इसलिये युद्ध-ग्रन्थ है, जो वास्तविक विजय दिलाता है; किन्तु गीतोक्त युद्ध तलवार, धनुष, बाण, गदा और फरसे से लड़ा जानेवाला सांसारिक युद्ध नहीं है और न इन युद्धों में शाश्वत विजय निहित है। यह सदसत् प्रवृत्तियों का संघर्ष है, जिनके रूपकात्मक वर्णन की परम्परा रही है। वेद में इन्द्र और वृत्र, विद्या और अविद्या, पुराणों में देवासुर संग्राम, महाकाव्यों में राम और रावण, कौरव एवं पाण्डव के संघर्ष को ही गीता में धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र, दैवी सम्पद् एवं आसुरी सम्पद्, सजातीय एवं विजातीय, सद्गुण एवं दुर्गुणों का संघर्ष कहा गया है।

यह संघर्ष जहाँ होता है, वह स्थान कहाँ है? गीता का धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र भारत का कोई भू-खण्ड नहीं, बल्कि स्वयं गीताकार के शब्दों में - **"इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।"**- कौन्तेय! यह शरीर ही एक क्षेत्र है, जिसमें बोया हुआ भला और बुरा बीज संस्कार-रूप से सदैव उगता है। दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, पाँचों विकार और तीनों गुणों का विकार इस क्षेत्र का विस्तार है। प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से विवश होकर मनुष्य को कर्म करना पड़ता है। वह क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। **"पुनरपि जननम् पुनरपि मरणम्, पुनरपि जननी जठरे शयनम्"** जन्म-जन्मान्तरों से करते ही तो बीत रहा है। यही कुरुक्षेत्र है। सद्गुरु के माध्यम से साधना के सही दौर में पड़कर साधक जब परमधर्म परमात्मा की ओर अग्रसर होता है, तब यह क्षेत्र धर्मक्षेत्र बन जाता है। यह शरीर ही क्षेत्र है।

इसी शरीर के अन्तराल में अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ पुरातन हैं – दैवी सम्पद् और आसुरी सम्पद्। दैवी सम्पद् में हैं – पुण्यरूपी पाण्डु और कर्त्तव्यरूपी कुन्ती। पुण्य जागृत होने से पहले मनुष्य जो कुछ भी कर्त्तव्य समझकर करता है, अपनी समझ से वह कर्त्तव्य ही करता है; किन्तु उससे कर्त्तव्य होता नहीं – क्योंकि पुण्य के बिना कर्त्तव्य को समझा ही नहीं जा सकता। कुन्ती ने पाण्डु से सम्बन्ध होने से पूर्व जो कुछ भी अर्जित किया, वह था कर्ण। आजीवन कुन्ती के पुत्रों से लड़ता रह गया। पाण्डवों का दुर्धर्ष शत्रु यदि कोई था, तो वह था 'कर्ण'। विजातीय कर्म ही कर्ण है, जो बन्धनकारी है, जिससे परम्परागत रूढ़ियों का चित्रण होता है – पूजा-पद्धतियाँ पिण्ड नहीं छोड़तीं। पुण्य जागृत होने पर धर्मरूपी 'युधिष्ठिर', अनुरागरूपी 'अर्जुन', भावरूपी 'भीम', नियमरूपी 'नकुल', सत्संगरूपी 'सहदेव', सात्त्विकतारूपी 'सात्यकि', काया में सामर्थ्यरूपी 'काशीराज', कर्त्तव्य के द्वारा भव पर विजय 'कुन्तिभोज' इत्यादि इष्टोन्मुखी मानसिक प्रवृत्तियों का उत्कर्ष होता है, जिसकी गणना सात अक्षौहिणी है। 'अक्ष' दृष्टि को कहते हैं। सत्यमयी दृष्टिकोण से जिसका गठन है, वह है दैवी सम्पद्। परमधर्म परमात्मा तक की दूरी तय करानेवाली ये सात सीढ़ियाँ 'सात भूमिकाएँ' हैं, न कि कोई गणना-विशेष। वस्तुतः ये प्रवृत्तियाँ अनन्त हैं।

दूसरी ओर है 'कुरुक्षेत्र', जिसमें दस इन्द्रियाँ और एक मन ग्यारह अक्षौहिणी सेना है। मनसहित इन्द्रियमयी दृष्टिकोण से जिसका गठन है, वह है आसुरी सम्पद्, जिसमें हैं अज्ञानरूपी 'धृतराष्ट्र' जो सत्य जानते हुए भी अन्धा बना रहता है। उसकी सहचारिणी है 'गान्धारी' – इन्द्रिय आधारवाली प्रवृत्ति। इसके साथ हैं – मोहरूपी 'दुर्योधन', दुर्बुद्धिरूपी 'दुःशासन', विजातीय कर्मरूपी 'कर्ण', भ्रमरूपी 'भीष्म', द्वैत के आचरणरूपी 'द्रोणाचार्य', आसक्तिरूपी 'अश्वत्थामा', विकल्परूपी 'विकर्ण', अधूरी साधना में कृपा के आचरणरूपी 'कृपाचार्य' और इन सबके बीच जीवरूपी विदुर है, जो रहता है अज्ञान में किन्तु दृष्टि सदैव पाण्डवों पर है, पुण्य से प्रवाहित प्रवृत्ति पर है; क्योंकि आत्मा परमात्मा का शुद्ध अंश है। इस प्रकार आसुरी सम्पद् भी अनन्त है। क्षेत्र एक ही है – यह शरीर, इसमें लड़नेवाली प्रवृत्तियाँ दो हैं।

एक प्रकृति में विश्वास दिलाती है, नीच-अधम योनियों का कारण बनती है, तो दूसरी परमपुरुष परमात्मा में विश्वास और प्रवेश दिलाती है। तत्त्वदर्शी महापुरुष के संरक्षण में क्रमशः साधन करने पर दैवी सम्पद् का उत्कर्ष और आसुरी सम्पद् का सर्वथा शमन हो जाता है। जब कोई विकार ही नहीं रहा, मन का सर्वथा निरोध और निरुद्ध मन का भी विलय हो जाता है तो दैवी सम्पद् की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। अर्जुन ने देखा कि कौरव-पक्ष के अनन्तर पाण्डव-पक्ष के योद्धा भी योगेश्वर में समाहित हो रहे हैं। पूर्ति के साथ दैवी सम्पद् भी विलीन हो जाती है, अन्तिम शाश्वत परिणाम निकल आता है। इसके पश्चात् महापुरुष यदि कुछ करता है, तो केवल अनुयायियों के मार्गदर्शन के लिए ही करता है।

लोक-संग्रह की इसी भावना से महापुरुषों ने सूक्ष्म मनोभावों का वर्णन उन्हें ठोस स्थूलरूप देकर किया है। 'गीता' छन्दोबद्ध है, व्याकरणसम्मत है; किन्तु इसके पात्र प्रतीकात्मक हैं, अमूर्त योग्यताओं के मूर्तरूप मात्र हैं। गीता के आरम्भ में तीस-चालीस पात्रों का नाम लिया गया है जिनमें आधे सजातीय हैं, आधे विजातीय। कुछ पाण्डव-पक्ष के हैं, कुछ कौरव-पक्ष के। 'विश्वरूप दर्शन' के समय इनमें से चार-छः नाम पुनः आये हैं, अन्यथा सम्पूर्ण गीता में इन नामों की चर्चा तक नहीं है। एकमात्र अर्जुन ही ऐसा पात्र है, जो आरम्भ से अन्त तक योगेश्वर के समक्ष है। वह अर्जुन भी केवल योग्यता का प्रतीक है, न कि व्यक्ति-विशेष। गीता के आरम्भ में अर्जुन सनातन कुलधर्म के लिए विकल है; किन्तु योगेश्वर कृष्ण ने इसे अज्ञान बताया और निर्देश दिया कि आत्मा ही सनातन है, शरीर नाशवान् है, इसलिए युद्ध कर। इस आदेश से यह स्पष्ट नहीं होता कि अर्जुन कौरवों को ही मारे। पाण्डव-पक्ष के भी शरीरधारी ही तो थे, दोनों ओर सम्बन्धी ही तो थे। संस्कारों पर आधारित शरीर क्या तलवार से काटने पर समाप्त हो सकेगा? जब शरीर नाशवान् है, जिसका अस्तित्व है ही नहीं, तो अर्जुन कौन था? श्रीकृष्ण किसकी रक्षा में खड़े थे? क्या किसी शरीरधारी की रक्षा में खड़े थे? श्रीकृष्ण ने कहा, "जो शरीर के लिए परिश्रम करता है, वह पापायु मूढ़बुद्धि पुरुष व्यर्थ ही जीता है।" यदि श्रीकृष्ण किसी शरीरधारी की रक्षा में

खड़े हैं, तब तो वे भी मूढ़बुद्धि हैं, व्यर्थ ही जीनेवाले हैं। वस्तुतः अनुराग ही अर्जुन है।

अनुरागी के लिए महापुरुष सदैव खड़े हैं। अर्जुन शिष्य था और श्रीकृष्ण एक सद्गुरु थे। विनयावनत होकर उसने कहा था कि धर्म के मार्ग में मोहितचित्त मैं आपसे पूछता हूँ, जो श्रेय (परम कल्याणकारक) हो, वह उपदेश मेरे प्रति कहिए। अर्जुन श्रेय चाहता था, प्रेय (भौतिक पदार्थ) नहीं। केवल कहिए ही नहीं, साधिये-सँभालिये। मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण हूँ। इसी प्रकार गीता में स्थान-स्थान पर स्पष्ट है कि अर्जुन आर्त्त अधिकारी है और योगेश्वर श्रीकृष्ण एक सद्गुरु हैं। वे सद्गुरु अनुरागी के साथ सदैव रहते हैं, उनका मार्गदर्शन करते हैं।

जब भावुकतावश कोई व्यक्ति 'पूज्य महाराज जी' के पास रहने का आग्रह करने लगता था, तब वे कहा करते थे - ''जाओ, शरीर से कहीं रहो, मन से मेरे पास आते रहो। प्रातः-सायं राम, शिव, ॐ किसी एक दो-ढाई अक्षर के नाम का जाप करो और मेरे स्वरूप का हृदय में ध्यान धरो। एक मिनट भी स्वरूप पकड़ लोगे, तो जिसका नाम भजन है, वह मैं तुम्हें दूँगा। इससे अधिक पकड़ने लगोगे, तो हृदय से रथी बनकर सदैव तुम्हारे साथ रहूँगा।'' जब सुरत पकड़ में आ जाती है, तो इसके बाद महापुरुष इतना ही पास में रहता है जितना हाथ-पाँव, नाक-कान इत्यादि आपके पास हैं। आप हजारों किलोमीटर दूर क्यों न हों, वह सदैव समीप हैं। मन में विचारों के उठने से भी पहले वे मार्गदर्शन करने लग जाते हैं। अनुरागी के हृदय में वह महापुरुष सदैव आत्मा से अभिन्न होकर जाग्रत रहता है। अर्जुन अनुराग का प्रतीक है।

गीता के ग्यारहवें अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य देखने पर अर्जुन अपनी क्षुद्र त्रुटियों के लिए क्षमायाचना करने लगा। श्रीकृष्ण ने क्षमा किया और याचना के अनुरूप सौम्य स्वरूप में आकर कहा, ''अर्जुन! मेरे इस स्वरूप को न पहले किसी ने देखा है और न भविष्य में कोई देख सकेगा।'' तब तो गीता हम लोगों के लिए व्यर्थ है; क्योंकि उस दर्शन की योग्यताएँ अर्जुन तक सीमित थीं। जबकि उसी समय संजय देख रहा था।

पहले भी उन्होंने कहा था, ''बहुत से योगीजन ज्ञानरूपी तप से पवित्र होकर मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं।'' अन्ततः वे महापुरुष कहना क्या चाहते हैं? वस्तुतः अनुराग ही 'अर्जुन' है, जो आपके हृदय की भावना-विशेष है। अनुरागविहीन पुरुष न कभी पूर्व में देख सका है और न अनुरागविहीन पुरुष भविष्य में कभी देख सकेगा – **''मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किये जोग तप ग्यान विरागा।।''** अतः अर्जुन एक प्रतीक है। यदि प्रतीक नहीं है, तो गीता का पीछा छोड़ दें, गीता आपके लिए नहीं है, तब तो उस दर्शन की योग्यता अर्जुन तक ही सीमित थी।

अध्याय के अन्त में योगेश्वर निर्णय देते हैं – ''अर्जुन! अनन्य भक्ति और श्रद्धा द्वारा मैं इस प्रकार प्रत्यक्ष देखने के लिए (जैसा तूने देखा), तत्त्व से स्पष्ट जानने के लिए और प्रवेश करने के लिए भी सुलभ हूँ।'' अनन्य भक्ति अनुराग का ही दूसरा रूप है और यही अर्जुन का स्वरूप भी है। अर्जुन पथिक का प्रतीक है। इस प्रकार गीता के पात्र प्रतीकात्मक हैं। यथास्थान उनका संकेत है।

रहे हों कोई ऐतिहासिक श्रीकृष्ण और अर्जुन, निश्चय ही हुआ हो कोई विश्वयुद्ध; किन्तु गीता में भौतिक युद्ध का चित्रण कदापि नहीं है। उस ऐतिहासिक युद्ध के मुहाने पर घबड़ाया तो था अर्जुन, न कि सेना। सेना तो लड़ने को तैयार खड़ी थी।

क्या गीता का उपदेश देकर श्रीकृष्ण ने सव्यसाची अर्जुन को सेना की योग्यता का बनाया? वस्तुतः साधन लिखने में नहीं आता। सब कुछ पढ़ लेने के बाद भी चलना शेष ही रहता है। यही प्रेरणा 'यथार्थ गीता' है।

श्री गुरु पूर्णिमा,
२४ जुलाई, १९८३ ई.

सद्‌गुरु कृपाश्रयी, जगत्बन्धु
स्वामी अड़गड़ानन्द

